SMT. HANSA MEHTA LIBRARY

Chapter - 7

सप्तम अध्याय

मूल्यांकन एवं उपसंहार

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY

मूल्यांकन – उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबंध का केन्द्रीय सोच नवगीत में जनवादी चिन्तन की सन्निहिति पर आरूढ़ है। विगत अध्यायों में यह सुस्पष्ट कर दिया गया है कि नवगीत का प्रारंभ तथा प्रस्तार जनवादी चिन्तन के धरातल पर ही विकसित हुआ है। नई कविता और नवगीत, ये दो समानान्तर विधाएँ हैं जो सामयिक – सोच के विविध आयामी निर्धारिणों को रेखांकित करती हैं। नई कविता का चिन्तन पटल वैश्विक–सोच के समानान्तर विकसित होने के प्रयास से जुड़ा है जबकि नवगीत का वैचारिक वृत्त भारतीय जनवादी मनीषा के सांस्कृतिक परिदृश्यों से अपना वर्ण्य खोजता हुआ अग्रसर हुआ है।

नई कविता की विवेचना पर इससे नवगीत की तुलनात्मक परिशोध का विषय हमारा विवेच्य वर्ण्य नहीं है। नवगीत की अस्मिता के वृहद पटल पर जनवादी चिंतन

की अनुगूँज और आम आदमी की मौजूदगी को विवेचित करना तथा जनवाद और नवगीत के अंतस्सम्बन्धों को विश्लेषित करना ही यहाँ समीचीन है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में नवगीत की पहचान और इसकी विकास यात्रा के संदर्भ में नवगीत के समूचे वृत्त का विहंगावलोकन करते हुए, सामयिक साहित्य लेखन के परिवृत्त में नवगीत की जमीन को स्पर्श किया गया है। नवगीत के संदर्भ में पुरार्वचनाओं का पुनर्वाचन न करके नवगीत के वृत्त विस्तार की पहचान और प्रस्तुत के विविध आयामों को ही विवेचित किया गया है।

इस प्रसंग में नवगीत में अनुबंधित जनवादी स्वरों की सन्निहिति की प्रतिध्वनियों को भी सुना समझा गया है तथा जनवाद और नवगीत के सामीप्य की समझदारी और उसके आरोपित अन्तराल को भी उदघाटित करने का यत्न किया गया है। नवगीत की पहचान को उद्घाटित करते हुए यह भी स्पष्ट किया गया है कि नवगीत की अपनी पृथक सत्ता तथा स्वतंत्र अस्मिता है जो किसी भी साहित्यिक विधा से पृथक और आत्मनिर्भर है।

विवेच्य विषय के संदर्भ में यह भी स्पष्ट किया गया है कि केवल शीर्षक का संज्ञायन ही नई कविता और नवगीत की तरह जनवादी कविता और नवगीत को पृथक नहीं करता, वरन् उसका समूचा वृत्त ही सोच के मूल अन्तराल को उद्घाटित करता है।

कहीं कहीं तो नवगीत की जनवादी सोच इतनी सहज और स्वाभाविक हो उठी है कि काव्य पंक्तियों में नवगीत और जनवादी गीतों के सीमांकन को ज्ञापित करना ही कठिन हो उठा है। जनवादी और नवगीत की जमीन तो एक ही है। आम आदमी की मौजूदगी भी दोनों में समान है, किंतु जनवादी कविता की खेमेबाजी और शिविरबद्धता

ने एक वैचारिक अन्तराल उपस्थित कर दिया है जो संज्ञार्थ को विशेषणार्थ में परिवर्तित कर देता है।

कुमार शिव लिखते हैं कि "नवगीत ने जहाँ एक ओर नगरीय सभ्यता को आत्मसात् किया है, वहीं दूसरी ओर इसकी जड़ें लोक-जीवन में भी गहरी चली गयी हैं। इसने नगर की यांत्रिकता को तो शब्द दिये ही हैं, साथ ही साथ लोक संस्कृति की गंध में भी यह आकंठ डूबा हुआ है।

यदि पुराना गीत उदास और एकान्तप्रिय था तो नवगीत के चेहरे पर तमतमाहट है, आक्रोश है। उसके तेवर बदले हुए हैं। नवगीत सपाट-बयानी का कायल नहीं है। वह मुंहफट नहीं है, लपेटकर बात कहना जानता है। कुछ न कहकर भी सब कुछ कह देता है।

नवगीत न तो कोई नारा है, न आन्दोलन। यह तो शब्दों का छन्दानुशासित जुलूस है जो नये बिम्बों और प्रतीकों के झंडे लेकर नये बोध की जमीन पर निरन्तर आगे से आगे बढ़ता जा रहा है; किन्तु नवगीत के सामने खतरे भी हैं। यदि उसमें नयी कविता के समान अनर्गल प्रयोगों की प्रवृत्ति पनपेगी और उसमें तथाकथित नवगीतकार शामिल होकर उसे फैशनपरस्त बनाने का प्रयास करेंगे तो उसमें विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती है। जिस मिट्टी से गीत का जन्म हुआ है यदि उसकी गन्ध उसमें नहीं है, तो फिर वह कैसा गीत है? केवल तुकें मिला देना ही गीत के लिए पर्याप्त नहीं है और चौंकाने वाले बिम्ब और प्रतीक गीत को बहुत आगे ले जाने वाले नहीं हैं। जब तक गीत पहचाने हुए सहज मानवीय भाव को प्रतिमूर्त नहीं करेगा तब तक उसकी सफलता में सन्देह है।"[1]

[1] नवगीत दशक-२ पृ.२१-२२

कुमार शिव अपने निर्धारिणों को प्रस्तुत नवगीत में व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि –

मैना री /

राजा के नाम / ये दरख्त–नदी–झरने /

तेरा बस पींजरा / पंख की कतरनें ।

यहाँ जनवादी सोच की प्रतिध्वनि है किंतु वृत्त नवगीत का ही है। इसी तरह विष्णु विराट जब कहते हैं –

आटे–बाटे / दही चटाके।

पटवारी ने कहा पटाके।

कानाबाती फुस–फुस–फुस

तू भी खुश तो मैं भी खुश।

तब इनका सहज जनवादी चिंतन भी मुखर हो उठता है।

" रामबाबू सेंगर अपनी लेखन वृत्ति को सुस्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि – 'लेखन मेरे लिए अपने 'स्व' के संघर्ष की अभिव्यक्ति है। समसामयिक यथार्थ की घुटन, विक्षोभ, बेचैनी तथा सारे परिवेशजन्य तनावों एवं अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करने का सबसे कारगर और मुकम्मल माध्यम मैं गीत को ही मानता हूँ। एक रचनाकार के रूप में 'मैं' को 'हम' का प्रतिनिधि मानकर ही अपने गीतों में मैंने सामाजिक समस्याओं के प्रभाव को तथा मानवीय दुःख–सुख को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है, या, यों कहें कि अपनी वैयक्तिक समस्याओं को सामाजिक समस्याओं के साथ एकाकार करके एक तरह से मैंने सामाजिक चेतना के साथ अपने 'मैं' के अन्तर्विरोध को समाप्त करके उसका समीकरण किया है।

गीतों में अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त कर देने का मैं पक्षधर हूँ। नये प्रतीकों एवं बिम्बों के लिए मैंने अतिरिक्त प्रयास नहीं किये हैं। सहज रूप में प्रतीक या बिम्ब अभिव्यक्ति के दौरान अपने आप उपस्थित होते चले गये। मेरा प्रयास हमेशा यही रहा है कि मैं अपने गीतों में ऐसी ऊर्जा, ऐसी धारदार तेजस्विता ला पाऊँ कि मेरी छोटी-से-छोटी हर अनुभूति एक घने विस्तार के साथ सामाजिक-सन्दर्भों से जुड़ती हुई अभिव्यक्ति की एक अभीष्ट बेबाकी और बुलन्दी तक पहुंचे। मेरी यह कोशिश रही है कि राजनीति के, समाज के तथा व्यक्ति के पूरे छद्म को पर्त-दर-पर्त उधेड़कर अभिव्यक्ति के स्तर पर पाठक के समक्ष उसे नंगा कर दिया जाये और उसके प्रति सहानुभूति के प्रसंग पर कुछ कहने की कोई गुंजाइश न छोड़ी जाये।

अपनी कविता में चमत्कार लाने के लिए स्वानुभूति अथवा भोगे हुए सच को अभिव्यक्ति करने के नाम पर कुछ भी बकना मुझे भाषा की मूल प्रकृति और इसके संगीत के साथ या शैली तथा रचनाशिल्प के साथ एक तरह से बलात्कार करना लगता है। मेरी कोशिश हमेशा यही रही है कि भोगी हुई सारी जलालतों तथा ज़िंदगी के सारे कटु अनुभवों को जीवन्त मूर्त रूप देकर अपनी सारी संवेदनाओं को मानवीय बिम्ब के रूप में सजीव और सप्रण बना सकूँ।

जीवन के सामयिक पक्षों से कटकर लिखने में मेरी कभी रुचि नहीं रही, बल्कि अपने आपको समयगत सच्चाइयों की उफनती नदी के प्रचण्ड प्रवाह में पूरे तौर पर फेंक़कर ही मैंने वास्तविक अनुभूतियां ग्रहण की हैं। अनुभूति की तीव्रता से बेदम हुआ मेरा घुटन-भरा अहंकार अभिव्यक्ति का कोई मार्ग न पाकर कभी-कभी चीखने को हो आता है और आखिरी छोर तक धकेल दिये जाने की भावना से उत्पन्न मौन क्रोध में मैं अपनी दोनों हथेलियां बड़ी बेरहमी से रगड़ता रहता हूँ। चेतना के इस विक्षोभ की

संवेदना को ही मैं अपने भीतर की सारी जड़ता और समाधिस्थता को तोड़ते हुए एक युगीन यथार्थ–बोध मानकर अपने गीतों में अभिव्यक्त करता रहा हूँ।

कथ्य की दृष्टि से गीत को नया बनाने में जिन दृष्टि–सम्पन्न रचनाकारों के प्रयत्नों से नवगीत–लेखन की एक स्वस्थ परम्परा निर्मित हो रही है, उनके प्रति मेरे मन में एक अटूट विश्वास है। नयी कविता, विचार कविता, अ–कविता या जनवादी कविता का तुर्रा देकर कविता के नाम पर ठेठ फूहड़ गद्य लिखने की अपेक्षा मैं कहानियां या व्यंग्य लिखना ज्यादा बेहतर समझता हूँ। यद्यपि नयी कविता की अपनी संवेदना है – अपना शिल्प है तथापि मैं यह मानता हूं कि फिलहाल वह सम्पूर्ण बिखराव की स्थिति में है तथा जनता का सामना करने में वह कतराती है। भारतीय जन–मानस ने उसे पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया है।"[1]

वस्तुतः नवगीत जितना लोकगीत के समीप है उतना ही जनगीत के। लोक में ग्राम्यपरिवेश तथा परम्परित सांस्कृतिक परिदृश्यों का प्रचलन स्पष्ट होता है तो यही लोकव्याप्ति की चिंतन धारा कुछ अभिजातीय परिवेश में तथा सीमांकनों के निबंधनों में बंधकर नगरीय परिवेश के जीवन्त परिदृश्यों को भी सामने रखकर जनवादी विशेषण से जुड़ जाता है।

डॉ. ओमनारायण अवस्थी का कथन है कि, नवगीत एक ऐसे विशिष्ट स्तर पर अवस्थित है जहां जीवन का शाश्वत और परिवर्तनशील रूप दोनों ही उनके अनुभव–व्यास और अभिव्यक्ति–प्रक्रिया में एक साथ सहज ही आ जाते हैं।

नवगीत न तो केवल लोकगीतात्मक रचना है और न केवल नगर–बोध की कविता, बल्कि वह, वह कविता है जो आज का सम्पूर्ण जीवन है। उसके शिल्प और कथ्य का आस्वाद एक कठोर और खुरदुरे हाथ के स्नेहमय स्पर्श का आस्वाद है।

---

[1] नवगीत दशक–२, पृ.५७

नवगीत आज के सम्पूर्ण जीवन के लघु–लक्ष्यों की कविता है। वह संगीत, लय, छन्द, तुक और ताल की समस्त पारम्परिक रूढ़ियों से मुक्त होता हुआ भी उनकी मूल धारा से जुड़ा है। वह एक ऐसा काव्यरूप है जो वास्तविक रचना के आंतरिक अनुशासन से अनुशासित है।

नवगीत के कवि एक ही समय में प्रतिबद्ध और तटस्थ दोनों हैं। इनकी प्रतिबद्धता केवल अपने परिवेश और वास्तविक अनुभूति के प्रति है और ये तटस्थ हैं काव्य–रचना के प्रति किसी भी प्रकार के विशष्टाग्रह से। ये मतवाद विशेष के प्रति तटस्थ हैं। वे रचना के शिल्प विशेष के प्रति आग्रही नहीं है। निजी परिवेश और अनुभूति विशेष के अनुरूप जो भी रचना–रूप हो सकता है, ये कवि उसी का प्रयोग करते हैं। वे काव्य–भाषा के रूप विशेष के प्रति तटस्थ हैं। वे स्वयं को परम्परा से कटा हुआ नहीं मानते। परमप्रा के श्रेष्ठत्व को स्वीकारते हुए, उसके विद्यमान और परिवर्तित रूप को ये कवि ग्रहण करते हैं। लेकिन ये परम्परावादी नहीं हैं।

"नवगीत की दृष्टि में जीवन की सम्पूर्णता है, उसका कोई एक पक्ष या अंग विशेष नहीं। वह वस्तु–सत्य – चाहे वह जिस भी रूप में ही – की कविता है, वैयक्तिक या आरोपित सत्य की नहीं। उसकी दृष्टि में जातीयता या जातीय परिवेश किसी भी आधुनिकता, अत्याधुनिकता या अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि नवगीत के कवि सीधे भोक्ता अतः प्रामाणिक प्रवक्ता हैं। ये कवि मानते हैं कि कविता कभी 'गद्य' नहीं थी, न है, न हो सकेगी। लिहाजा ये उसमें संगीत या लय को अनिवार्य मानते हैं, लेकिन उतने ही अनुपात में जितना कविता के लिए जरूरी हो। ये कवि उस आधुनिकता को त्याज्य मानते हैं जो उन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व अथवा स्वत्व से हीन अथवा अजातीय अथवा अभारतीय अथवा अहिन्दी कवि बनाती है। और ऐसा वे

इसलिए मानते हैं कि वे नहीं चाहते कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में वे अप्रामाणिक हों।"[1]

गुलाबसिंह के नवगीतों में यह जनवादी सोच अपेक्षाकृत अधिक संवेदना और भावोद्वेगों के साथ उभरा है। जैसे –

"घर आँगन चौपाल चौंतरा /
झाड़ बुहार गई /
बड़े सकारे / किरन ओसारे।
पाटी पार गई /
दिनभर थकी / साँझ को लौटी /
बूढ़ा बाप धरे सगुनौटी /
धूप सरीखी – धिया हमारी /
चौखट तार गई ।
सपने ओढ़े / आस बिछाए।
गुमसुम लेट गई / बिन खाए।
भरी उमर में / देह अजाने /
दुःख के द्वार गई।"[२]

आधुनिक परिवेश और परिवर्तित जीवनमूल्यों ने सोच के समूचे धरातल को ही बदल डाला है। वैश्विक बाजारवादी व्यामोह का आरोपण, तकनीकी वैज्ञानिक अनुसंधान, मीडिया और मसल्स का आधिपत्य, कम्प्यूटर–व्यवस्था का रोजमर्रा की

---

[1] नवगीत दशक–२, पृ.६१
[2] गुलाब सिंह, वही, पृ.९५

जिन्दगी में हस्तक्षेप, संवेदन शून्य, स्वार्थी और प्रभावी प्रवृत्ति का विस्तार, उपभोगितावादी चिन्तन की जड़ता का एहसास आदि अनेक ऐसे बदलाव सामने आ गए हैं जिन्होंने हमारी समूची सांस्कृतिक विरासत तथा आस्थावान निष्ठा को चरमराकर रख दिया है।

राजेन्द्र गौतम के अनुसार – यांत्रिक जटिलताओं, ग्राम्य एवं नागरिक विकृतियों तथा आपाधापी के परिणामस्वरूप बाहर एवं भीतर एक खंडितता का बोध आज के जीवन का यथार्थ बन गया है। इस यथार्थ को रमेश 'रंजक', गोपाल चतुर्वेदी, विनोद तिवारी, श्यामसुन्दर दुबे एवं गुलाब सिंह आदि गीतकारों ने विशेष रूप से रेखांकित किया है।

आज जीवन एक और अभावों से ग्रस्त है, दूसरी ओर इसमें व्यथित–व्यक्ति के बीच पहचान खोती जा रही है। यदि कोई पहचान शेष है, तो वह है लेन–देन की। रमेश 'रंजक' ने अपने गीतों में इस स्थिति को अभिव्यक्त किया है। संबंधों के टूटने, दोस्ती जैसी पहचान निरर्थक हो जाने, स्वार्थ के गुब्बार के द्वारा सब कुछ छा लेने का चित्रण उन्होंने अपने गीतों में जिस रूप में किया है उसका एक चित्र प्रस्तुत है :

"मोल के ते दिन, मुलाकातें गरम
सामने भर का घरेलूपन
चाय–सी ठंडी हंसी आंखे तराजू
एक टुकड़ा मन।"[1]

एक ओर वणिक् वृत्ति से ग्रस्त आज नगराभिमुखी समाज है, दूसरी ओर इस भागमभाग में उपेक्षित छूट गये ग्रामीण जीवन की विडम्बना गाथा है, जहाँ से निर्वासित

[1] रमेश 'रंजक' – इतिहास दुबारा लिखो,पृ.६५

मन को जब भी कोई सम्पर्क छू जाता है, तो उसका पहला आग्रह वही होता है, जो विद्यानंदन 'राजीव' के इस गीत में है :

"पाहुन गाम की कहो
गुबरीले हाथों में
झाडू थामे सीता
भीगते पसीने में, राम की कहो !
पहुंच सकी है क्या कुछ
वहां / गली-गलियारे
पारिजात की भीनी गंध
क्या पीले पपड़ाये
होंठों का जुड़ पाया
जीते छंदों से संबंध
बहती है गर्म नदी
तेज दहकता सूरज
कहो तनिक
उसी सूरज धाम की कहो।" [1]

गुलाबसिंह को लगता है कि आठवां दशक खंडित सपने एवं समग्र क्रांति की ललक लिये बीत रहा है। यह खंडितता पूर्वोक्त त्रासद स्थितियों को और भी प्रभावपूर्ण ढंग से हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। युह की मुखोटाधारी स्थिति को चित्रित करते हुए कवि लिखते हैं :

[1] विद्यानंदन 'राजीव', साठोत्तरी हिन्दी गीतिकाव्य, क्रांति लोधी, पृ.२०१

"शीशों के दिल दिमाग वाली
महलों की महरिन–सी
झुग्गियां, बूटों बंदूकों के पांव ढके
अनुशासन पर्वों की लुंगियां
सपनों का एक स्वर्ग
सुलग रहा आंखों में
नाकों में निन्यानबे नरक।"[१]

श्यामसुन्दर दुबे ने भी व्यक्ति और समाज की विभाजित मनःस्थितियों का यथार्थ चित्र अपने कई गीतों में प्रस्तुत किया है। कवि को लगता है कि हम एक खंडित इकाई की तरह अधूरे हैं। विभाजित बोध से ग्रस्त यह जीवन दो जीभ वाला नाग हो गया है। दुबेजी ने आज के कुचले हुए, टूटे हुए व्यक्ति की दयनीय स्थिति का चित्रण तो अपने गीतों में किया ही है; ग्रामीण जीवन की विडम्बनाओं को भी उन्होंने रेखांकित किया है :

"आंधियां चटका गयी हैं / बांह जब से
हो गयी गुम–सुम हमारे द्वार की जामुन
कटे बाजू से पिता के / बंट गये आंगन
बहुत भारी है तभी से मां का मन
आंच सूने कांच की / पी गयी है
सदा नीरा हंसी को / चेहरे बचे हैं रेत।"[२]

[1] गुलाब सिंह, हिन्दी नवगीत : उद्‌भव और विकास, पृ.१०१
[2] श्याम सुंदर दुबे, हिन्दी नवगीत : उद्‌भव और विकास, पृ.१२२

नवगीत और जनगीत में समानान्तर सोच की जमीन बिम्ब और प्रतीकों के परिवृत्त की पहचान के साथ तय हुई है। नवगीत में बिम्ब या अलंकरणों का सायास आरोपण या अनुबंधन नहीं है। जनगीतों में ही यह सहज वृत्ति परिलक्षित हुई है।

राजेन्द्र गौतम का मानना है कि – नवगीत एवं जनवादी गीतों में बिम्बों के अभिनव प्रयोग हुए हैं। इसके अन्तर्गत कई इतने मौलिक एवं टटके प्रयोग नवगीतकारों ने किये हैं कि हठात् हमारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। 'पज कर वट वृक्ष सावित्री हवाएं / रुक गयीं कचनार की लेने बलाएं, ललछोंही रंगीन कोंपलें टहनी–टहनी पर फूटीं, शाम : एक नदी (नईम), आले में रूखा / मटमैला शीशा / तड़ से तड़का, नदी पार जाते हुए पथ / रेत–वन को मुड़ गये, समय जैसे बाज / नन्ही परेवा को मारकर। उड़ गया ऊंचे शिखर की ओर, पीठो पर खंडहर / पैरों में मरुथल / हाथों में खालीपन / आंखों में जल (ओम प्रभाकर) सूरज के घोड़े गलियारे में भटक गये रोके से रूक न रहे / रेशमी लगाम से, बांध लिया है सेहरा / खुश–गवार धूप ने जाफरियों से छनकर आती है धूप (रामचन्द्र चन्द्रभूषण), पीले पत्तों जैसे झर जाते हस्ताक्षर (शिवबहादुर सिंह भदौरिया), फूल नहीं बदले गुलदस्तों के / धूल मेजपोश पर जमी हुई / जहां–तहां पड़ी दस किताबों पर / घनी सी उदासियां थमी हुई, लिखे भोजपत्रों पर / झूठ हलफनामे, नींद की छिपने लगी परछाइयां, मुखबिर विप्लव की मुद्रा / लजवन्ती–सी छुई–मुई (उमाकान्त मालवीय), हादसे–सा उगा दिन, रोशनी के इन्द्रधनुषों पर लटकते / प्लास्टिक के फ्यूज चेहरे (भगवान स्वरूप), रात काले गुलाबों का वन, सूरज बुझा बेंगनी नीला (देवेन्द्र कुमार), पपड़ाये होठों पर जम कर रह गये हरे आश्वासन, नीली बातें, हम उथले घाट गये, रांगे की नदी बही पांवों में, नीले इस ताल पर झूल गया सूर्यमुखी फूल उलझी है एक याद बरगद की डाल पर (सोम ठाकुर), लहरों की भीड़ मुझे धकिया कर जा लगी किनारे, कुंदन विश्वासों ने

चुभो दिये / अनगिन नश्तर पैने, हल्दी भरे हाथ की थापें मारकर। जाने क्या लिख गयी अमावस / लिपी–पुती दीवार पर (रमेश रंजक), जर्जर ट्यूबों वाले पहिये पर ठहरा है अपना संसार (अमरनाथ श्रीवास्तव), शोर सड़क पर थमा हुआ है। गलियों में सन्नाटा उभरा (श्री कृष्ण तिवारी), महुए नहीं, मुकदमें फूलें। लाठी फलें बगीचे (गुलाब सिंह), चीड़ वन में / थरथराती छांव। बर्फ ने बांधे / नदी के पांव, धूप 'गीशा–गर्ल' सी / उजली–धुली–सी / नील नभ का कर रही स्वागत (कुमार रवीन्द्र), मील के पत्थर बने / कब से खड़े / इस किनारे की धधकती रेत में (राम सेंगर), धूप की कुल्हाड़ी से / समय चोट करता है / हवा में हिलाते हैं, हम सूखी डालियों से (कुमार शिव), समय मछेरों के हाथों का / थैला है जीवन / जिसमें जिंदा मछली जैसा उछल रहा है मन, आड़े–तिरछे टूटे कांच की / एक तेज धार–सी हवा (कुंवर बेचैन), कच्ची भीत–सा ढहता हुआ दिन, घाटियों में हवा का कपड़े बदलना, रेतियों पर सीप–शंखों से लिखे खत (सत्यनारायण), जड़े अंधेरों में हाथों की / दीप जलाये कैसे कोई (सूर्यभानु गुप्त), शीशे पर लिखे हुए संधिगान चटके (भगवान स्वरूप), ओस से तर चांदनी के फूल सारे यहां घाटी में खिले हैं (ऋषिवंश) हर सुबह होती किनारे लाश / पानी पर उगे मस्तूल (उमाशंकर तिवारी), अमराई देह जब / खिड़की में महक उठे / बेला की बांस हंसे सांझ वातिन / रोली–आखत टीके माथे आकाश के गोधूली बेला जब अहिवातिन (श्याम सुन्दर दुबे), बाढ़ में उजड़ गये मृणाल की तरह / मोह की नदी में बह रहे उधर / शोख लहर हमको ले जा रही जिधर (बुद्धिनाथ मिश्र), आंखों में परिचय के / सपने तिरते हैं / हम परियों का देश / ढूंढ़ते–फिरते (जहीर कुरेशी), फुनगियों तक / रंग के / मौसम बने / भाभियों के खत / हमारे दिन बने (हरीश निगम), द्वार देहरी पर छपे स्वस्तिक, कंपकंपी पहने हुए मौसम थरथराता है कनेरों पर, सूखने लगी घाटी मन की, धूसर पगडंडी फैलाए है

अपनी बांह, सासों से रिस गया हरापन (योगेन्द्रदत्त शर्मा), उड़ गयी पगडंडीयों से खुशबुएं सब आहटों की, उड़ाकर गंध कस्तूरी / हवाएं दूर ले जातीं / भटकते झुंड हिरनों के बबूलों से पुरे वन में, वृन्तों से बिछुड़े दिन धारा के फूल हुए (राजेन्द्र गौतम) जैसे बिम्बों की इतनी लम्बी श्रृंखला है, जिसका विवेचन स्वयं में एक रोचक विषय है। समग्रतः बिम्ब–विधान की दृष्टि से नवगीत का शिल्प पूर्णतः मौलिक है। नवगीत में वस्तुपरक बिम्बों के साथ–साथ अलंकृत बिम्बों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है – यह तथ्य पूर्वोद्धत गीत–पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है। यहां पर उल्लेख अनिवार्य है कि वस्तुपरक स्पष्ट बिम्बों की सर्जना में जहां इन कवियों की यथार्थमूलक जीवन–दृष्टि प्रमुख रही है, वहां अलंकृत बिम्बों के निर्माण का उत्तरदायित्व इन कवियों की संश्लिष्ट रचना–क्षमता पर है। वस्तुपरक बिम्बों की नवता जहां गृहीत विषय की नवता की परिचायक है, वहां अलंकृत बिम्बों की मौलिकता का आधार है मौलिक अप्रस्तुत–विधान। हम यह मानते हैं कि कविता का साध्य संवेदना को अपने मूल रूप में सम्प्रेषित करना ही है अतएव बिम्ब का शिल्पगत तत्व उसके इस सम्प्रेषण–व्यापार के साधन ही है। संवेदना की अभिव्यक्ति संवेगाश्रित होने के कारण बिम्ब से प्रत्यक्षतः जुड़ी है, अतएव नवगीत में बिम्ब अर्थ–सम्प्रेषण का इन्द्रिय–सापेक्ष साधन है इसीलिए इसके बिम्ब–विधान की सफलता का एक मापदण्ड हमारे लिए यह भी है कि यह कथ्य के सम्प्रेषण में कहां तक सफल हुआ है। हम पाते हैं कि नवगीत में बिम्बों का प्रयोग भाषा की अलंकृति तक सीमित नहीं है, बल्कि जिस कठोर यथार्थ की अभिव्यक्ति का संकल्प हमें नवगीत में मिलता है, उसी के सफल निर्वाह के लिए नवगीतकार ने वस्तुपरक एवं सार्थक तथापि राग–सम्पन्न बिम्बों की सर्जना की है। अर्थ सम्प्रेषण के सम्बन्ध में बिम्बों की भूमिका को लेकर कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्य हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। रसेल ने एक स्थान पर कहा है – 'Images in

fact, act as symbols just as words do.' जबकि लिविस ने लिखा है – 'An intense image is the opposite of a symbol.' इसमें संदेह नहीं है कि नवगीत में सघन बिम्बों (Intense images) का ही प्रयोग हुआ है, लेकिन उसको सर्वथा प्रतीक–विरोधी नहीं कह सकते। वस्तुतः नवगीत में बिम्बों की रूपात्मक सत्ता अपने अर्थगत गहन स्तर पर प्रतीकों की प्रत्ययमूलकता में भी पर्यवसित हुई है, परन्तु नवगीत की भाषापरक अभिव्यक्ति मूलतः गोचर है। प्रतीकार्थ का कुछ स्थूलों पर यदि वहन हुअ है तो इसे हम नवगीत की अतिरिक्त उपलब्धि कहेंगे नवगीतकारों में प्रतीकमूलक बिम्ब–योजना का प्रयोग माहेश्वर तिवारी द्वारा विशेष रूप से हुआ है। जैसा कि डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है – बिम्ब का मुख्य कार्य अनुभूत वस्तु का प्रस्तुतीकरण (Presentation) है और प्रतीक की सार्थकता किसी विचार या प्रत्यय के प्रतिनिधित्व (Representation) में मानी जाती है, नवगीत के बिम्बमूलतः वस्तु की प्रस्तुति हैं, प्रत्यय के प्रतिनिधि प्रयोग भी नवगीत की भाषा में उपलब्ध हैं साथ ही नवगीत में बिम्बात्मक प्रतीकों का भी प्रयोग हुअ है। यथा – अंधियारे का जंगल उग आया सड़कों पर।

यदि हम नवगीत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि पारम्परिक साम्य–मूल्यक अलंकारों का अन्वेषण करें तो निःसंदेह वे इसमें उपलब्ध हो जायेंगे परन्तु नवगीतकार ने उस रूढ़ रूप में अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, जिस रूप में रीतिकालीन तथा इस प्रकार के अन्य कवियों ने किया है। वस्तुतः एक नव्य अप्रस्तुत योजना का संधान नवगीतकार की मूलभूत आवश्यकता थी। हम मानते हैं कि काव्य विषय की अभिव्यक्ति रूपात्मक ही होती है, प्रत्ययमूलक नहीं। संवेदना और चिन्तन को काव्य–रचना–प्रक्रिया में मूर्तित करने का माध्यम अप्रस्तुत एवं बिम्ब हैं, क्योंकि एक ओर अप्रस्तुतों के माध्यम से रचनाकार अरूप को रूपायित करता है, दूसरी ओर

अपूर्ण एवं अनभिव्यक्त काव्य-स्थितियों को अप्रस्तुतों के माध्यम से पूर्णता प्रदान कर सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। यहां हम एक और तथ्य को रेखांकित करना चाहेंगे। नयी कविता का अप्रस्तुत-विधान चमत्काराश्रित जितना है, उतना सौन्दर्यमूलक नहीं, क्योंकि उसमें इन्द्रिय-संवेद्य स्थितियों के उद्घाटन की उतनी क्षमता नहीं है जबकि नवगीत के सौन्दयशास्त्र में चमत्कार को काव्य का अभिप्रेत नहीं स्वीकारा गया है, इसलिए इसका अप्रस्तुत विधान मूलतः चारुत्वमूलक है, न कि चमत्कार-प्रधान। इसमें सर्जनात्मक कल्पना का उसी रूप में सहयोग लिया गया है, जिस रूप में बिम्ब-रचना के लिए कल्पना का प्रयोग नवगीतकार ने किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नवगीतकार की अप्रस्तुत योजना अपनी एक मौलिकता लिये हुए है। कुछ अप्रस्तुत द्रष्टव्य है – 'बतखों सी तैरती क्वार की पुरवइया', 'सपने के मंदिर', 'समय डाकिया', 'विज्ञापन-सी सुबह', 'कालगर्ल-सी रात', 'उम्र के फकीर', 'चुप्पी मूंग, उड़द सन्नाटे', 'मृग-सी छलनाएं', 'किरनों की टहनी', 'शंख-सी निशाएं', 'बर्फ की ऋचाएं', 'रोशनी का छंद', 'क्षण के बंजारे', 'मौन की गुलेलें', 'कथानक-सी बेलें', 'दिन की कमान', 'थकी हुई गायों-सी निंदियाती शीशम-सी छायाएं', 'अधभूली दंतकथा-सी यादें', 'संकल्पों के पांव', 'अप्सरियों-सी रागिनी', 'ओस की बूंदों सरीखी नम उदासी", 'मौन की उंगलियां', ('आहटों का खुशबुएं',) 'आहटों की खुशबुएं', 'कील-सी चुप्पी', 'रिक्तता की मुट्ठियां', 'रेत-सा रिसता अंधेरा', 'टूटे कांच-सा अजनबीपन', 'मन का आंगन', 'व्यर्थता-सी शुष्क रेती', 'मन संपाती', 'रोमिल खरगोशों-से परिचित सम्बोधन' आदि। ये अप्रस्तुत प्रमाणित करते हैं कि नवगीतकार ने एक ओर पारम्परिक अलंकारों की घेरेबंदी को स्वीकार किये बिना उनकी युगानुरूप अन्तर्भुक्ति अपने काव्य में की है, दूसरी ओर अपनी दिगन्तप्रसरित कल्पना के माध्यम से अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान की है। प्रश्न उत्पन्न होता है –

क्या कविता में अप्रस्तुत–विधान का अभिप्रेत अलंकरण–मात्र है या इससे इतर भी कुछ है? हमारी दृढ़ मान्यता है कि कविता में अलंकार्य अथवा अलंकार का स्थूल विभाजन निरर्थक है। वास्तविकता यह है कि जो कविता संवेदना के स्तर पर सत्य है और उद्देश्य के स्तर पर शिव है, वही अभिव्यक्ति के स्तर पर सुन्दर है। स्पष्टतः ये तीनों स्थितियाँ एक ही समग्र इकाई–कविता–के तीन संश्लिष्ट आयाम हैं, तीनों की पृथक् स्थिति संभव एवं सार्थक नहीं है। अतएव कविता में जो सुन्दर के रूप में ग्राह्य है, वह वस्तु एवं शिल्प का समेकित एवं अविभाज्य रूप है। कविता के इसी समेकित अविभाज्य रूप के एक घटक के रूप में ही अप्रस्तुत–विधान का महत्व है; अतएव शिल्प के अन्य उपकरणों की भाँति अप्रस्तुत की सार्थकता भी संवेदना अथवा अर्थ के अभीष्ट सम्प्रेषण में है। हम यहाँ यह विशेष रूप से रेखांकित करना चाहेंगे कि नवगीत का अप्रस्तुत–विधान इसी प्रयोजन की सिद्धि करता है। अप्रस्तुत तुलना–सापेक्ष रचना–विधान है – यह स्वतः स्पष्ट है। कविता में यह सादृश्य अथवा वैरूप्यमूलक कल्पना–व्यापार वस्तु को मूर्तिमान करने के लिए ही किया जाता है; अतएव सार्थक अप्रस्तु विधान गोचर एवं रागमूलक ही होता है। नवगीतकार ने इसी धारणा की पुष्टि अपने कृतित्व के द्वारा की है। प्रकृति एक आदिम अनुभव के रूप में मनुष्य की सहचरी रही है। स्वभावतः प्रकृति–सापेक्ष उपमानों का मनुष्य की वासना से प्रगाढ़ सम्बन्ध होने के कारण उनका सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से अधिक महत्व है। नवगीतकार ने इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए प्रकृति–जगत् से अनेक सार्थक अप्रस्तुतों को ग्रहण करके मौलिकता का परिचय दिया है। काव्य–भाषा का विकास मौलिक अप्रस्तुतों के माध्यम से ही होता है। यहां हम यह भी स्पष्ट कर दें कि नवगीतकार ने अप्रस्तुत–विधान के सम्बन्ध में अपने गिर्द रूढ़ियों का जाल नहीं बुना है क्योंकि प्रकृतिपरक उपमानों के साथ–साथ सामयिक जीवन के यथार्थ से जुड़े सार्थक

उपमानों का प्रयोग भी उसने किया है; लेकिन अधुनातन जीवन–संदर्भों को भी उसने वह अनुभव–सापेक्ष तरलता अवश्य प्रदान की, जिसके द्वारा प्रयुक्त उपमानों को इन्द्रिय–ग्राह्य बनाया जा सकता है। हम यहां नवगीत के अप्रस्तुत विधान की कतिपय विशेषताओं को उदाहरणों द्वारा रेखांकित करना चाहेंगे। जैसा कि हम कह चुके हैं कि नवगीत में गृहीत उपमानों में प्रमुखता प्रकृति–सापेक्ष उपमानों की है लेकिन सर्जनात्मक कल्पना के बल पर नवगीतकारों ने उसे कितना नया परिप्रेक्ष्य दिया है, यह हम देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की निम्न पंक्तियों से समझ सकते हैं :

"फड़फड़ाकर धूप के डैने
उड़ गयी दोपहर चीलों–सी
महकती आलोक–चम्पाएं
चुभ रहीं मन में करीलों–सी
खुशबुओं के गीत मुरझाये
जो उगे थे कभी श्रृंगों पर"[1]

प्रस्तुत शोधप्रबंध में लोकगीत, जनगीत और नवगीत के अन्तस्सम्बन्धों और वैचारिक अन्तरालों को ज्ञापित किया गया है। नवगीतों में आम आदमी की मौजूदगी और उसके जीवन्त वृत्त को रेखांकित करते हुए भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्यों के विविध रूपों को भी व्याख्यायित किया गया है।

जनवाद और हिन्दी काव्य के संदर्भ में जनवादी सोच और कविता में उसके विविध रुपरंगों को सामने रखकर उसकी राजनीतिक घुसपैंठ को भी रेखांकित किया गया है।

---

[1] देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', अक्षर पर्व, अंक–१७, पृ.८७

नवगीतों में जनवादी चेतना के विविध रूपों को सुस्पष्ट करते हुए नवगीत के वर्ण्य विस्तार को भी रेखांकित किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में प्रथमबार ही जनवादी गीतों को समानान्तर नवगीत के सम्पूर्ण वृत्त के धरातल को विवेचित किया गया है। आगत शोधार्थियों एवं शोध अध्येताओं के लिए यह शोध प्रबंध मननीय और उपादेय होगा, ऐसा विश्वास है।